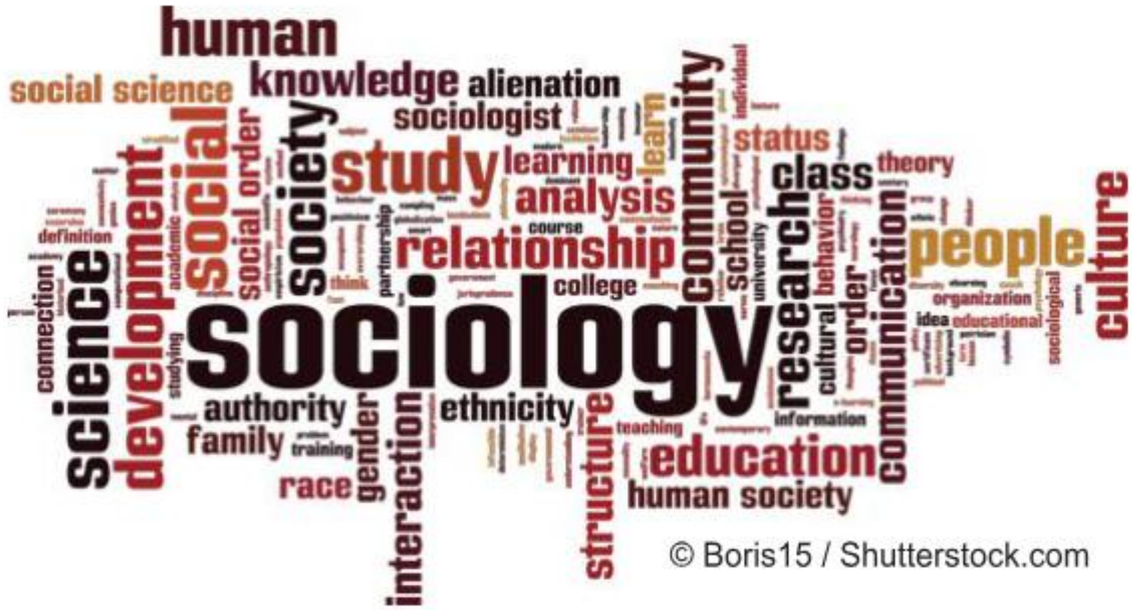

अवधारणाएँ और समाजशास्त्र : कुछ विमर्श[1]

मैत्रेयी चौधरी

अनुवाद: आयुषी शर्मा[#],

त्रिभू नाथ दुबे[##]

परिचय

यह लेख समाजशास्त्र में सिद्धांतों और अवधारणाओं से जुड़े मेरे अपने अनुभवों और आत्मचिंतन पर आधारित है। मुझे आज भी वे प्रारंभिक दिन याद हैं जब मैं समाजशास्त्र की एक नई-नई और अविश्वस्त छात्रा थी। मुझे यह सलाह दी गई थी कि कक्षा में होने वाले व्याख्यानों और निर्धारित पठन सामग्री को समझने के लिए पहले बुनियादी अवधारणाओं का अध्ययन कर लूं। लेकिन, इन अवधारणाओं को पढ़कर

---

[1]डूइंग सोशियोलॉजी - https://doingsociology.org/2022/02/17/concepts-and-sociology-some-reflections-maitrayee-chaudhuri/#_edn8 पर अंग्रेजी में प्रकाशित मूल पाठ का साभार हिंदी रूपांतरण

जिन स्पष्टताओं की मुझे आशा थी, वे मुझे प्राप्त नहीं हो सकीं। अब जब पीछे मुड़कर देखती हूं, तो पाती हूं कि यह पूरी तरह मेरी व्यक्तिगत समझ की कमी नहीं थी। वर्षों के अनुभव ने मुझे यह अहसास कराया कि यह उलझन आंशिक रूप से उस पद्धति से भी जुड़ी है, जिससे हम अवधारणाओं को पढ़ते, पढ़ाते और समझते हैं[2]। नीचे मैं कुछ ऐसे प्रश्नों और पक्षों की ओर संकेत करने का प्रयास कर रही हूं, जो समाजशास्त्र में अवधारणाओं के प्रति हमारे दृष्टिकोण से संबंधित हैं।

मैंने जानबूझकर इस लेख का शीर्षक 'अवधारणाएँ और समाजशास्त्र' रखा है। क्योंकि 'समाजशास्त्र में अवधारणाएँ' कहने पर एक ऐसा अर्थ ध्वनित होता है मानो समाजशास्त्रीय अवधारणाएँ पहले से ही निश्चित और स्वाभाविक रूप से मानी हुई चीज़ें हों। यह वही धारणा है जिसे मैं खंडित करना चाहती हूं और अवधारणाओं की जिस अस्पष्टता को हम महसूस करते हैं, उसके पीछे यह छुपी हुई प्रतीत होती है। एक अधिक सार्थक दृष्टिकोण यह होगा कि हम अवधारणाओं को ऐसे तत्वों के रूप में देखें जो विशिष्ट ऐतिहासिक संदर्भों में उभरते हैं। इन्हें वे विचारक अभिव्यक्त करते हैं जिनकी अपनी निश्चित जीवन-यात्रा (बायोग्राफी) होती है और जो उस समाज को समझने का प्रयास करते हैं, जिसमें वे रहते हैं। इस प्रक्रिया में वे पूर्ववर्ती अवधारणाओं का सहारा लेते हैं, उनमें से कुछ को चुनौती देते हैं और कुछ से सीखते हैं। सामाजिक सिद्धांतों की कोई विशुद्ध (इमैक्युलेट) अवधारणा नहीं होती। वे विशेष ऐतिहासिक संदर्भों में जन्म लेते हैं और आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, संस्थागत और बौद्धिक प्रक्रियाओं से गहरे जुड़े होते हैं। हमें केवल उन संदर्भों को ही नहीं समझना चाहिए जिनमें सिद्धांत उत्पन्न होते हैं, बल्कि उन जटिल रास्तों को भी पहचानना चाहिए जिनसे वे यात्रा करते हैं, फैलते हैं, और ग्रहण किए

[2] चौधरी, मैत्रेयी. (सं.). "दि कॉन्सेप्ट ऑफ कल्चर इन माय क्लासरूम एंड इन ग्लोबलाइज़्ड टाइम्स" इन *दि प्रैक्टिस ऑफ सोशियोलॉजी*, pp. 370-402, नई दिल्ली: ओरिएंट ब्लैकस्वान, 2003); (ed). *सोशियोलॉजी इन इंडिया: इंटेलेक्चुअल एंड इंस्टिट्यूशनल प्रैक्टिसेज* (रावत, जयपुर, 2010).

जाते हैं। इसके लिए सिद्धांतों के उत्पादन, प्रसार और स्वीकार्यता के संदर्भों का सूक्ष्म निरीक्षण आवश्यक है[3]।

हमारी शैक्षिक प्रक्रियाएँ इसमें किसी प्रकार की मामूली भूमिका नहीं निभातीं। यह आवश्यक है कि हम उन सामाजिक प्रक्रियाओं और वैचारिक पूर्वधारणाओं का परीक्षण करें जिनके माध्यम से सिद्धांत और विचारक पाठ्यक्रमों में स्थान पाते हैं, और फिर हमारे अनेक शिक्षण एवं शोध संस्थानों में दैनिक अभ्यास की प्रक्रिया में वे एक स्थिर और अपरिवर्तनीय स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं।एक व्यापक धारणा यह भी है कि कोई भी अवधारणा एक पूर्व-निर्धारित तत्त्व होती है, जो पाठ्यक्रमों में जमी हुई होती है और जिसे बस ग्रहण कर लिया जाना चाहिए। इसके साथ ही कक्षा (क्लासरूम) को एक सीमित और बंद क्षेत्र के रूप में देखने का नजरिया भी जुड़ा है, जिसका उद्देश्य केवल परीक्षाओं और डिग्रियों की प्राप्ति तक सीमित होता है, और जिसका व्यापक समाज से कोई संबंध नहीं माना जाता[4]।

इसके अतिरिक्त, अवधारणाएँ विशिष्ट सैद्धांतिक प्रतिपादनों में अंतर्निहित होती हैं, और प्रत्येक प्रतिपादन के अपने विशिष्ट क्षेत्रीय (डोमेन) पूर्वग्रह या मान्यताएँ होती हैं। जब हम किसी अवधारणा और उससे जुड़ी अन्य अवधारणाओं को समझने का प्रयास करते हैं तो इन सैद्धांतिक संरचनाओं की भी व्याख्या आवश्यक हो जाती है। इन अंतर्संबंधों का अन्वेषण हमें न केवल सोचने बल्कि 'अवधारणा करने'' (कॉन्सेप्चुअलाइज़) की क्षमता विकसित करने में सहायक होता है। यह दृष्टिकोण अधिक सार्थक हो सकता है, बजाय इसके कि हम किसी अवधारणा की एक 'स्थिर'

---

[3] चौधरी, मैत्रेयी. "रीडिंग थ्योरी बैकवर्ड्स" इन मनीष ठाकुर(सह सं.) *डूइंग थ्योरी: लोकेशन्स, हायरार्कीज़ एंड डिस्जंक्शन्स*, pp. 345-366, (हैदराबाद: ओरिएंट ब्लैकस्वान 2018).

[4] चौधरी, मैत्रेयी. "रीडिंग थ्योरी बैकवर्ड्स" इन मनीष ठाकुर(सह सं.) *डूइंग थ्योरी: लोकेशन्स, हायरार्कीज़ एंड डिस्जंक्शन्स*, pp. 345-366, (हैदराबाद: ओरिएंट ब्लैकस्वान 2018).

और जमी हुई परिभाषा को लेकर चलें और फिर किसी आनुभाविक उदाहरण के सहारे उस अवधारणा को बस 'दिखाने' या 'स्पष्ट करने' का प्रयास करें।

मैंने अकसर देखा है कि भोजन, फैशन, संगीत आदि में मिश्रण या फ्यूज़न के उदाहरणों को 'हाइब्रिड' अवधारणा के प्रमाण के रूप में प्रस्तुत कर दिया जाता है। किंतु मैं यहाँ यह तर्क रखना चाहती हूं कि किसी भी अवधारणा, जैसे 'हाइब्रिडिटी'[5], को सही अर्थों में समझने के लिए उसके सामाजिक और बौद्धिक उद्भव की प्रक्रिया को समझना आवश्यक है। साथ ही, यह भी जानना जरूरी है कि यह अवधारणा सामाजिक यथार्थ को समझने में हमारी कितनी मदद कर सकती है या नहीं कर सकती। क्योंकि अवधारणाएँ वास्तविकता को गढ़ने वाली कारक और उसे दर्शाने वाले संकेतक (इंडिकेटर), दोनों ही होती हैं।

संदर्भ और अवधारणाएँ : सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक आयाम

ऐसे अनेक तरीके हैं जिनसे संदर्भ अवधारणाओं को आकार देते हैं। यदि हम सामाजिक संदर्भों और अवधारणाओं के उद्भव को देखें, तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि ऐसी अवधारणाएँ जैसे अलगाव/एलिएनेशन (मार्क्स), नियमहीनता/एनॉमी (दुर्खीम) और विरक्ति/एस्ट्रेंजमेंट (वेबर) - ये सभी उस ऐतिहासिक संदर्भ में उत्पन्न हुईं, जो यूरोप में आधुनिकता के आगमन से उत्पन्न असाधारण परिवर्तन और अस्थिरता द्वारा परिभाषित था।

यह वह समय था जब, जैसा कि मार्क्स ने कहा था, "जो कुछ भी ठोस है, वह हवा में विलीन हो जाता है, और जो कुछ भी पवित्र है, उसका अपवित्रीकरण हो जाता है।"[6]

---

[5] मैंने 'हाइब्रिडिटी' की अवधारणा का परीक्षण उस समय भी किया जब वैश्वीकरण के उफान के समय यह हमारे अवधारणात्मक शस्त्रागार में तेजी से शामिल हो गई थी; और हाल ही में एक बार फिर। देखें – "दि कॉन्सेप्ट ऑफ कल्चर इन माय क्लासरूम एंड इन ग्लोबलाइज़्ड टाइम्स" मैत्रेयी चौधुरी (सं.) *दि प्रैक्टिस ऑफ सोशियोलॉजी*, pp. 370-402, नई दिल्ली: ओरिएंट ब्लैकस्वान, 2018; "ग्लोबलाइज़ेशन इन इंडियन सोशियोलॉजी: द इनविज़िबल एंड द हाइपरविज़िबल," *डायोजनीज*, 271-272 (3-4): 133-154, 2021.

[6] मार्क्स, कार्ल और फ्रेडरिक एंजेल्स. *दि कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो*, 1848.

दुर्खीम के लिए "यही एनॉमिक स्थिति है जो... निरंतर पुनरावृत्त होने वाले संघर्षों और विविध प्रकार के अव्यवस्थाओं का कारण है, और आर्थिक जगत, जिनका एक दुःखद प्रदर्शन करता है।"[7] मैक्स वेबर शोक व्यक्त करते हैं कि विश्व की प्रक्रियाएँ "मोहभंग की स्थिति" में (डिस्एनचान्टेड) हैं और उन्होंने अपना "जादुई स्पर्श" खो दिया है; अब वे केवल 'हैं' और 'घटित होती हैं', किंतु अब उनका कोई विशेष अर्थ नहीं रह गया है।"[8]

यद्यपि जिस समाज में वे रहते थे और जिसे वे समझना चाहते थे वह एक व्यापक अर्थ में समान कहा जा सकता है, फिर भी उनके सरोकार और उन्हें संबोधित करने के तरीके भिन्न थे। उदाहरणतः, मार्क्स और दुर्खीम दोनों ही समाज में सामाजिक चेतना, मानदंडों और नैतिकता के प्रभाव से प्रभावित थे। मार्क्स के लिए ये विचार शासक वर्ग के विचार थे, वर्चस्ववादी विचार - "*हावी भौतिक संबंधों की आदर्श अभिव्यक्ति*।"[9] दुर्खीम के लिए यह सामूहिक चेतना (कलेक्टिव कॅन्सिएन्स) थी - "एक ही समाज के आम नागरिकों में समान्य रूप से प्रचलित विश्वासों और भावनाओं की सम्पूर्णता।"[10]

मार्क्स और दुर्खीम दोनों इस बात पर सहमत थे कि सामाजिकता का विश्लेषण लोगों के प्रतिदिन की धारणाओं और पूर्वग्रहों से आरंभ नहीं किया जा सकता। किंतु उनके सैद्धांतिक प्रतिपादन भिन्न दिशाओं में आगे बढ़े। दुर्खीम ने इस खतरे से बचने के लिए *समाजशास्त्रीय पद्धति के नियम* प्रतिपादित किए, लेकिन इस पद्धति की धारा मार्क्स रचित भौतिकतावादी प्रस्थापनाओं से बिल्कुल भिन्न थी।

---

[7] दुर्खीम,इमाईल. *दि डिवीजन ऑफ लेबर इन सोसाइटी*, 1893.
[8] वेबर, मैक्स. *सोशियोलॉजी ऑफ रिलिजन*, 1920.
[9] मार्क्स, कार्ल और फ्रेडरिक एंगेल्स. *दि जर्मन आइडियोलॉजी*, 1846.
[10] दुर्खीम, इमाईल. *दि डिवीजन ऑफ लेबर इन सोसाइटी*, 1893.

उन्होंने कहा कि विश्लेषण की शुरुआत "वास्तविक व्यक्तियों, उनकी गतिविधियों और उन भौतिक परिस्थितियों से होनी चाहिए जिनके अंतर्गत वे रहते हैं — वे परिस्थितियाँ जो पहले से विद्यमान हैं और वे भी जो उनकी गतिविधियों के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती हैं।"[11] यह दृष्टिकोण, उनकी समझ कि मनुष्य एक सक्रिय, सक्षम प्राणी होने के साथ-साथ इतिहास की सीमाओं में आबद्ध भी है, से उत्पन्न भी होता है और उसकी पुनरुक्ति भी है।

जब मार्क्स "*श्रम विभाजन के विकास की विभिन्न अवस्थाओं*" का विवेचन करते हैं तो वे इस बात पर बल देते हैं कि ये " मात्र स्वामित्व के विभिन्न रूप हैं।" यह दुर्खीम की उस स्थापना से बिल्कुल भिन्न है जिसमें वे कहते हैं कि "... *सामाजिक सहयोग का मूल आधार श्रम विभाजन है*। यह उस सहयोग से चिह्नित होता है जो प्रत्येक व्यक्ति, घटनाओं के दबाव में, व्यवस्था में खुद की एक विशेष भूमिका को अन्य लोगों से एकजुटता के रूप में श्रेयस्कर समझता है।"[12] (उद्धृत वाक्यांशों में विशेष बल लेखकीय है)

परिभाषा को ठीक समझ लेना, अवधारणा को ठीक समझ लेने के समान नहीं है

मेरे स्पष्टता की तलाश बुनियादी अवधारणाओं की परिभाषाओं को पढ़ने से शुरू हुई। किंतु जल्दी ही मुझे यह अनुभव हुआ कि यह रास्ता एक छलावा है। इसके पीछे एक अनकही धारणा काम करती है कि यदि किसी अवधारणा की परिभाषा को 'सही' ढंग से समझ लिया जाए तो मानो उस अवधारणा को ही पूरी तरह समझ लिया गया। किंतु हम सभी जानते हैं कि वास्तविकता में ऐसा नहीं होता। परिभाषाएँ, जिन्हें प्रायः रट कर याद किया जाता है, समाज को समझने के विश्लेषणात्मक उपकरण

---

[11] मार्क्स, कार्ल और फ्रेडरिक एंगेल्स. *दि जर्मन आइडियोलॉजी*, 1846.

[12] दुर्खीम, इमाईल. *दि डिवीजन ऑफ लेबर इन सोसाइटी*, 1893.

के रूप में अवधारणाओं की वास्तविक समझ से कोई समानता नहीं रखतीं। हमारे यहाँ ज्ञान की प्राप्त परंपरा का लंबा इतिहास रहा है, इसलिए आश्चर्य नहीं कि समाजशास्त्र के दैनिक प्रयोग में शैक्षणिक प्रक्रिया में यह प्रवृत्ति सदा बनी रही है। पाउलो फ्रीयर ने इसे 'बैंकिंग पद्धति' कहा है, जिसमें शिक्षक जानकारी को छात्रों में दमनपूर्वक एकतरफा रूप से 'जमा' कराते हैं, ठीक वैसे ही जैसे कोई बैंक में पैसा जमा करता है (इसलिए बैंकिंग शब्द का प्रयोग)[13]।

हालाँकि वर्षों में इसे सरल बनाने के प्रयास के साथ इसकी प्रासंगिकता और बढ़ गई है। इसे आसान बनाने के पीछे जो एक प्रमुख तर्क दिया जाता है, वह यह है कि इससे समाज के व्यापक वर्ग तक पहुँचना संभव हो सकेगा। किंतु यह तर्क एक ग़लत और अभिजनवादी (इलीटिस्ट) दृष्टिकोण पर आधारित है, जो यह मानता है कि अधिकांश विद्यार्थी अवधारणात्मक प्रश्नों को समझने में सक्षम नहीं होंगे।मैं दृढ़ता से मानती हूं कि किसी अवधारणा को न समझ पाने की जिम्मेदारी विद्यार्थियों पर नहीं, बल्कि हमारी शिक्षण पद्धतियों पर है।[14]

एक और कारण जिससे यह धारणा लोकप्रिय हुई है कि 'परिभाषाएँ याद रखना' ही 'जानना' है, और प्रकार का दृष्टिकोण ही बहुविकल्पीय प्रश्नों (मल्टीपल चॉइस क्वेश्चंस) की बढ़ती प्रवृत्ति को बढ़ावा देता है - एक ऐसी विधि जिसे 'वस्तुनिष्ठ' और 'सहज मूल्यांकन और सारणीयन के योग्य' माना जाता है। अतः विद्यार्थियों को दिए गए विकल्पों में से सही उत्तर को चिन्हित करना होता है, जो कि निश्चित और 'वस्तुनिष्ठ' मानदंडों पर आधारित होते हैं। लेकिन यह कहानी हमेशा अपनी पटकथा के अनुरूप नहीं चलती। यहाँ तक कि 'तथ्य' भी - 'अवधारणाओं' की तो बात ही छोड़ दीजिए - पकड़ में लाना बहुत कठिन होते हैं। जैसा कि मैं आगे थोड़ा विस्तार से

[13] फ्रीयर, पाउलो. *पेडागॉजी ऑफ द ऑप्रेस्ड*, न्यूयॉर्क: कंटिन्यूम, 1970.

[14] चौधरी, मैत्रेयी. *दि प्रैक्टिस ऑफ़ सोशियोलॉजी*, हैदराबाद: ओरिएंट ब्लैकस्वान, 2003.

बताऊँगी, यह समाजविज्ञान की स्वभावगत प्रकृति में ही निहित है, और विशेष रूप से समाजशास्त्र में यह और भी जटिल हो जाता है। हाल ही की एक घटना इस बात पर प्रकाश डालती है कि ‹तथ्य›, ‹वस्तुनिष्ठता› और ‹तटस्थता› वास्तव में कितने विवादास्पद होते हैं।

तथ्य, वस्तुनिष्ठता, तटस्थता और भावनाओं का जटिल धरातल

2020 के नवंबर-दिसंबर में आयोजित टर्म 1 बोर्ड परीक्षाओं के दौरान 12वीं कक्षा की समाजशास्त्र परीक्षा में एक बहुविकल्पीय प्रश्न को लेकर विवाद उत्पन्न हो गया। प्रश्न था: "2002 में गुजरात में मुसलमानों के विरुद्ध अभूतपूर्व पैमाने और फैलाव की हिंसा किस सरकार के शासन में हुई थी?" इसके उत्तर विकल्प थे: "कांग्रेस", "भाजपा", "लोकतांत्रिक" और "गणतांत्रिक"। केंद्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड (सीबीएसइ) ने इस प्रश्न को "अनुचित" बताया और यह कहा कि "प्रश्न केवल अकादमिक उन्मुखता वाले होने चाहिए और वैसे क्षेत्रों से दूर रहना चाहिए जो लोगों की सामाजिक और राजनीतिक पसंद के आधार पर उनकी भावनाओं को आहत कर सकते हों।"[15] कुछ लोगों द्वारा प्रश्न में दिए गए विकल्पों की भी आलोचना की गई। बोर्ड ने अब इसके लिए माफ़ी मांगी है और प्रश्नपत्र तैयार करने वालों के विरुद्ध कार्रवाई की है।

बहुविकल्पीय प्रश्नों (एमसीक्यू) का औचित्य जिस 'वस्तुनिष्ठ प्रश्नों' की धारणा पर आधारित है, वह एक फिसलनभरी ज़मीन है। तटस्थता और वस्तुनिष्ठता के बीच का संबंध जटिल और तनावपूर्ण होता है। एक तथ्यपूर्ण प्रश्न भी राज्य द्वारा निर्धारित लोगों की भावनाओं पर खतरनाक ढंग से चोट करता हुआ प्रतीत हो सकता है। 'तटस्थ' और 'वस्तुनिष्ठ' ज्ञान की इच्छा आकर्षक लग सकती है, लेकिन यह उस बिंदु को नज़रअंदाज़ कर देती है कि समाजविज्ञान स्वयं 'तथ्यों' को पहले से निश्चित या

[15] https://www.timesnownews.com/education/article/cbse-s-class-12-sociology-question-leads-to-outrage-board-acknowledges-errors-promises-action/836970 , दिनांक २३ जनवरी २०२२ को देखा गया.

परिभाषाओं को स्थिर मानने की धारणा पर पद्धतिगत बहसों के साथ आगे बढ़ता है। यह मुद्दा समाजशास्त्र जैसे अनुशासन में केन्द्रीय रहा है। समाजविज्ञानी स्वभावतः समाज के सदस्य होते हैं। यह स्थिति 'सामाजिकता' का अध्ययन 'भौतिक' जगत के अध्ययन से बिल्कुल भिन्न बनाती है। जैसा कि इमाईल दुर्खीम ने अपनी कृति दि रूल्स ऑफ़ सोशियोलॉजिकल मेथड में कहा है:

> *मनुष्यों ने कानून, नैतिकता, परिवार, राज्य या स्वयं समाज के बारे में विचार बनाने के लिए समाजविज्ञान के आगमन की प्रतीक्षा नहीं की, क्योंकि ऐसे विचार उनके जीवन के लिए अनिवार्य थे। विशेष रूप से समाजशास्त्र में ये पूर्वधारणाएँ मन को अपने अधीन कर लेने की क्षमता रखती हैं और वस्तुओं के स्थान पर स्वयं को स्थापित कर देती हैं। वास्तव में, सामाजिक वस्तुएँ केवल मनुष्यों द्वारा ही साकार होती हैं: वे मानवीय क्रियाकलाप की उपज होती हैं।*[16]

समाज के सदस्य होने के नाते हमारे पास समाज के बारे में केवल समझ/विचार/अवधारणा ही नहीं होते, बल्कि हम उनसे गहराई से जुड़े भी होते हैं।

> *समाजशास्त्र में ऐसी धारणाओं से मुक्ति को विशेष रूप से कठिन बना देने वाली बात यह है कि इसमें भावनाएँ प्रायः हस्तक्षेप करती हैं। हम अपनी राजनीतिक और धार्मिक आस्थाओं तथा नैतिक अभ्यासों के प्रति वैसे उत्साहित होते हैं जैसे भौतिक जगत की वस्तुओं के प्रति नहीं होते। परिणामस्वरूप, हमारी मान्यताओं को समझने और समझाने के ढंग में यह भावनात्मकता भी समाहित हो जाती है।*[17]

मार्क्स की ओर लौटें तो वे आदर्शवादियों की उस प्रवृत्ति से सावधान करते हैं, जो अध्ययन की शुरुआत हमारे दैनिक जीवन में प्रचलित वैचारिक धारणाओं से करते

---

[16] दुर्खीम, इमाइल. *द रूल्स ऑफ सोशियोलॉजिकल मेथड*, 1895.
[17] दुर्खीम, इमाइल. *द रूल्स ऑफ सोशियोलॉजिकल मेथड*, 1895.

हैं। वहीं, दुर्खीम पूर्वधारणाओं से मुक्ति की बात करते हैं। समाजशास्त्र में यह चुनौती सामान्य ज्ञान और समाजवैज्ञानिक ज्ञान के आपसी संबंध पर कई लेखनों का कारण बनी है। रॉबर्ट पार्क जैसे कुछ विद्वान इस चर्चा में 1942 में 'परिचय आधारित ज्ञान' (नॉलेज बाय अक्वेंटेन्टेन्स) और 'जानकारी आधारित ज्ञान' (नॉलेज अबाउट) जैसे शब्दों के साथ प्रवेश करते हैं।

परिचय आधारित ज्ञान; जानकारी आधारित ज्ञान

रॉबर्ट पार्क लिखते हैं कि ज्ञान के दो मूल प्रकार होते हैं: (i) "परिचय का ज्ञान" और (ii) "जानकारी आधारित ज्ञान"। वे लिखते हैं:

> *'परिचय का ज्ञान' (अक्वेंटेंस विथ) वैसा ज्ञान है, जिसे कोई व्यक्ति अनिवार्यतः निजी और प्रत्यक्ष अनुभवों के दौरान अर्जित करता है- उस दुनिया में जिसका हमने अनुकूलन कर लिया है, ऐसी चीज़ों का ज्ञान जिनसे हम परिचित हैं। इस प्रकार के ज्ञान को वस्तुतः एक प्रकार की जैविक अनुकूलता या अनुकूलन के रूप में समझा जा सकता है, जो लंबे अनुभवों की एक श्रृंखला का संचय और कहें तो एक प्रकार की 'पूंजी' है। यही व्यक्तिगत और निजी अनुभवजन्य ज्ञान हमें उस संसार में सहज बनाता है जिसमें हम रहने का चुनाव करते हैं या रहने को विवश होते हैं।*[18]

इसके विपरीत, और मैं पुनः उद्धृत करती हूँ:

> इसकी तुलना में 'जानकारी आधारित ज्ञान' (नॉलेज अबाउट) है। ऐसा ज्ञान औपचारिक, तर्कसंगत और प्रणालीबद्ध होता है। यह निरीक्षण और तथ्यों पर आधारित होता है, लेकिन उन तथ्यों पर, जो अन्वेषक के उद्देश्य और दृष्टिकोण

---

[18] पार्क, रॉबर्ट ई. "न्यूज़ ऐज़ ए फॉर्म ऑफ नॉलेज: अ चैप्टर इन द सोशियोलॉजी ऑफ नॉलेज", *अमेरिकन जर्नल ऑफ सोशियोलॉजी*, खंड 45: पृष्ठ 669-686, 1940.

के अनुसार, जांचे-परखे, चिन्हित, व्यवस्थित किए गए हों और फिर इस या उस परिप्रेक्ष्य में व्यवस्थित किए गए हों।[19]

समाजशास्त्र के दैनिक व्यवहार में यह अंतर प्रायः धुँधला हो जाता है। किसी समाज की प्रमुख सहजबुद्धि (कॉमन सेंस) को प्रायः समाजशास्त्रीय बोध के रूप में प्रस्तुत कर दिया जाता है। आइए देखें कि 'परिवार' के उदाहरण के माध्यम से यह कैसे होता है, और हमें इससे क्यों सावधान रहने की आवश्यकता है। नीचे दिए गए सभी उदाहरण जाने-पहचाने हैं। जब हम 'माँ' शब्द सुनते हैं तो यह हमारे समाज में प्रचलित मातृत्व की पूर्वनिर्धारित उस धारणा से जुड़ जाता है, जिससे हम परिचित होते हैं। कुछ संबंधित कार्य या विचार होंगे - खाना बनाना, देखभाल करना, घरेलू जीवन, त्याग, समर्पण, आत्म-त्याग आदि। इसी प्रकार, जब हम 'पिता' शब्द सुनते हैं तो उसमें यह धारणा निहित होती है कि वह परिवार का मुखिया है, कमाने वाला है, कार्यरत है, उत्तरदायी है, और निर्णय लेने वाला है। इसी तरह, 'बालक' शब्द सुनते ही मन में किसी विद्यालय जाने वाले बालक की छवि आती है - जो संभवतः अपने साथियों के साथ, पार्क में खेल रहा हो। साथ में दी गई छवियाँ इस अनुभूति को स्पष्ट करती हैं।

कैसे दोनों चित्र और अवधारणाएँ यथार्थ के कुछ हीअंशों को उजागर करती हैं और अन्य को मिटा देती हैं

[19] दुर्खीम, इमाइल. *द रूल्स ऑफ सोशियोलॉजिकल मेथड*, 1895.

ऊपर दिए गए चित्रों की तरह ही, प्रबल सामान्यबुद्धि (कॉमनसेंस) 'झूठी' नहीं होती, बल्कि आंशिक होती है। यद्यपि वह यथार्थ के एक हिस्से को प्रस्तुत करती है और दृश्य बनाती है, परंतु कई अन्य पहलू उससे ओझल रह जाते हैं। इन चित्रों में जो बातें अनुपस्थित हैं, उनमें से एक यह तथ्य है जिसे यूनिसेफ़ ने प्रस्तुत किया कि आगामी दशक में वैश्विक स्तर पर अतिरिक्त एक करोड़ बालिकाओं के बाल-विवाह के जोखिम में पड़ने की आशंका है। बाल-विवाह से जुड़ा जोखिम केवल उन लड़कियों तक सीमित नहीं होता जो 18 वर्ष से पहले विवाह कर लेती हैं, बल्कि यह एक पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलने वाले निर्धनता के चक्र को जन्म देता है जो अर्थव्यवस्था पर भी प्रतिकूल प्रभाव डालता है। यह लड़कियों को शिक्षा से वंचित कर सकता है, जिससे उनकी स्वायत्तता और स्वास्थ्य सेवाओं तक उनकी पहुँच बाधित होती है। जो नीतियाँ यह सुझाव देती हैं कि बालिकाओं की वैधानिक विवाह आयु बढ़ाने से उन्हें सशक्त किया जा सकता है, वे प्रचलित सामान्यबुद्धि पर आधारित धारणाओं तथा 'परिचय आधारित ज्ञान' (नॉलेज बाय अक्वेंटेन्टेन्स) की सीमाओं को दर्शाती हैं।

ऐसी सामान्यबुद्धि पर आधारित धारणाएँ, अर्थात् "परिचय के आधार पर अर्जित ज्ञान" , दृष्टिकोण को संकीर्ण बना सकती हैं और कभी-कभी जिन बच्चों को सशक्त करने का उद्देश्य होता है, उन्हीं के हितों के विरुद्ध भी जा सकती हैं। इसके विपरीत "जानकारी आधारित ज्ञान" औपचारिक ज्ञान होता है; अर्थात् ऐसा ज्ञान जो ठोस यथार्थ को विचारों से तथा वस्तुओं को शब्दों से अभिहित करने में किसी सीमा तक सटीकता और स्पष्टता प्राप्त कर लेता है। टाल्कट पार्सन्स जैसे समाजशास्त्री भी इन दोनों प्रकार के ज्ञानों के बीच के भेद को स्पष्ट रूप से नहीं रख सके।

पार्सन्स का तर्क है कि विस्तारित परिवार का स्वरूप सामाजिक गतिशीलता को सीमित करता है, क्योंकि यह तात्कालिक आर्थिक लक्ष्यों को दीर्घकालिक पारिवारिक हितों के अधीन कर देता है। इस तर्क की दृष्टि से, स्वजन (कुटुम्ब) के प्रति

प्रबल निष्ठा आर्थिक उपलब्धियों के प्रति निरपेक्ष समर्पण को बाधित करती है, क्योंकि यह व्यक्तिवाद, जो सामान्य प्रदर्शन के बजाय व्यक्ति की निजी विशेषताओं पर बल देती है, की अपेक्षा सामूहिकता की भावना को प्रोत्साहित करती है। किंतु आनुभाविक अध्ययन इस धारणा को समर्थन नहीं देते। स्वयं संयुक्त राज्य अमेरिका में, जहाँ से पार्सन्स ने यह तर्क प्रस्तुत किया था, वहाँ भी इस विषय पर भिन्न और विरोधी मत विद्यमान थे।

जैसे ही 1960 के दशक में ध्यान "अमेरिकी परिवार" के एकरूप अनुभव की सामान्य जांच से हटकर पारिवारिक रूपों में उप-सांस्कृतिक विविधताओं के अधिक सूक्ष्म निरीक्षण की ओर गया; अर्थव्यवस्था, परिवार और सामाजिक गतिशीलता के परस्पर संबंधों के व्यापक प्रश्न के एक पहलू पर तीखी बहस शुरू हो गई। इस असहमति का केन्द्र यह प्रश्न था कि क्या अश्वेत परिवार की "संरचनात्मक त्रुटियाँ" अमेरिकी समाज में अश्वेतों की आर्थिक रूप से पिछड़ी स्थिति के लिए उत्तरदायी थीं। मैं उद्धृत करती हूँ:

> *ग़ुलामी के दौर में श्वेत अमेरिकियों ने अश्वेत परिवार को नष्ट करके अश्वेत समुदाय की इच्छाशक्ति को तोड़ दिया था। यद्यपि हमारी वर्तमान पीढ़ी में उस इच्छाशक्ति ने फिर से अपना स्वर प्रकट किया है, किंतु जब तक अश्वेत परिवार की स्थायित्व क्षमता को पुनः स्थापित नहीं किया जाता, तब तक यह पुनरुत्थान निराशा के लिए अभिशप्त है।*[20]

भारत में बीते दशकों में व्यापक विद्वतापूर्ण लेखन सामने आया है, जो भारतीय परिवार की जाति, वर्ग और लिंग आधारित प्रमुख प्रस्तुतियों की सीमाओं को

---

[20] ग्लेज़र, नेथन और डैनियल पी. मोयनिहैन। *बियॉन्ड द मेल्टिंग पॉट: द नीग्रोज़, प्यूर्टो रिकन्स, ज्यूज़, इटालियन्स, एंड आइरिश ऑफ न्यू यॉर्क सिटी.* एमआईटी प्रेस, 1970.

रेखांकित करता है।[21] वह धारणा, इससे विमुख नहीं है जो भारतीय "परिवार" को एक "स्थिर इकाई" के रूप में और रूढ़िबद्ध शब्दों में परिभाषित करती है। सामान्यबुद्धि हमें बताती है कि भारतीय परिवार संयुक्त से एकल (न्यूक्लियर) परिवारों की ओर बढ़ रहे हैं। यह धारणा समाजशास्त्र में भी बनी रहती है, जबकि मुख्यधारा के समाजशास्त्री जैसे ए.एम. शाह ने दशकों तक संलग्न रहकर विस्तृत अभिलेखीय तथा क्षेत्रीय कार्य के माध्यम से यह दिखाया कि लगभग 1820 से जनगणना और अन्य आँकड़े इस बात का संकेत देते हैं कि भारत में परिवार के संगठन में कोई एकरेखीय परिवर्तन नहीं हुआ है।

जहाँ एक ओर संयुक्त परिवार शहरी, शिक्षित एवं पेशेवर वर्ग में कमज़ोर होता प्रतीत होता है, वहीं अधिकांश जनसंख्या में संयुक्त परिवारों की संख्या में वृद्धि हुई है। यह संकेत करता है कि आधुनिक भारत में संयुक्त परिवार के विघटन की जो सामान्य धारणा प्रचलित है, उसका उद्गम एक विशिष्ट, किन्तु मुखर वर्ग में है, जो संख्या में अल्प होते हुए भी वैचारिक प्रभाव रखता है।[22]

पर पूर्वग्रहों से छुटकारा पाना आसान नहीं होता। अवधारणाएँ हमारे बाहर की नहीं होतीं। मनुष्य स्वभावतः अवधारणाएँ गढ़ता है। उसके पास सहजबुद्धि, विश्वदृष्टि और इस संसार में दिशा पाने के लिए अपने स्वयं के सिद्धांत होते हैं। और ये सब समाज में हावी विचार होते हैं जो रोज़मर्रा की भाषा और विमर्श में गहराई से अंतर्निहित रहते हैं।

इसलिए कोई भी 'सिद्धांत-पूर्व बिंदु' नहीं होता, क्योंकि जैसा कि समाजशास्त्री और सामाजिक मानवविज्ञानी जानते हैं, मनुष्य हर जगह केवल 'करता' ही नहीं है, बल्कि 'सोचता' और 'कहता' भी है। मनुष्य अवधारणाओं से युक्त प्राणी है। और मनुष्यों के

[21] पवार, उर्मिला. *द वीव ऑफ़ माय लाइफ़: अ दलित वुमन्स मेम्वायर्स,* अनुवादक: माया पंडित, स्त्री प्रकाशन, 2008, पृष्ठ x–xiii; रेगे, शर्मिला. *राइटिंग कास्ट/राइटिंग जेंडर: नैरेटिंग दलित वुमन्स टेस्टिमोनिअल्स,* जुबान बुक्स, 2013.

[22] शाह, ए. एम. फैमिली स्टडीज़: रेट्रोस्पेक्ट ऐंड प्रॉस्पेक्ट, *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* 40(1): 19–22, 2005.

पास अपने कार्यों के लिए कारण होते हैं। ‘सामाजिकता’ तो स्वयं में ही उस सहजबुद्धि जिसे हम ज्ञान के रूप में अपने परिवार और मित्रों से, ‘परिचय’ के ज़रिये प्राप्त करते हैं, में रची-बसी होती है। हमें इनका परीक्षण करने और ‘ज्ञान के परिचयात्मक रूप’ से आगे बढ़कर ‘जानकारी आधारित ज्ञान’ विकसित करने के लिए समाजशास्त्रीय अवधारणाओं की आवश्यकता होती है, क्योंकि समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण का केन्द्रीय तत्व ही सामान्य और सहज को खण्डित करना और उससे अपरिचय करना है। अवधारणाएं बनाने/ अवधारणीयन का कोई विकल्प नहीं है। जैसा कि पीटर बर्जर ने कहा:

> *समाजशास्त्रीय चेतना व्यक्ति को मध्यवर्गीय सामाजिक प्रतिष्ठा की दुनिया के परे अन्य संसारों के प्रति सजग कर देती है; और यह सजगता अपने भीतर ही बौद्धिकता विरोधी (या इंटेलेक्चुअल अनरेस्पेक्टिबिलिटी) के बीज समेटे होती है।*

जिस स्पष्टता की खोज के साथ मैंने 'मूल अवधारणा' विषयक पाठ्यक्रम में प्रवेश किया था, वह समाजशास्त्र के स्वभाव के प्रतिकूल है। यहाँ हम "बिल्कुल ऐसा ही होता है" जैसे कथनों से हटकर यह पूछना शुरू करते हैं—"यह कौन कहता है?"[23] अवधारणाएँ हमें सतह के पार देखने और आवरण के पीछे झाँकने में सहायता करती हैं।

आप सोच रहे होंगे कि जिन विद्वानों का मैं उल्लेख कर रही हूँ वे किसी और समय के हैं। और कुछ लोग यह भी सोच सकते हैं कि उन विद्वानों को ऐसी बहसों में क्यों घसीटा जाए जिनका समाधान पहले ही हो चुका है। परंतु इस लेख में अवधारणाओं से हमारे संवाद के जो अनेकानेक संकट बताए गए हैं, वे आज भी प्रासंगिक हैं। और

---

[23] बर्गर, पीटर. *एन इन्विटेशन टू सोशियोलॉजी: अ ह्यूमैनिस्टिक डिसिप्लिन*, न्यू यॉर्क: एंकर बुक्स, 1963.

जबकि हमारे अवधारणात्मक उपकरण-कोष में निरंतर नए-नए शब्द प्रवेश कर रहे हैं, हम आज भी कई बार 'हाइब्रिडिटी' जैसी अवधारणाओं - जिनका मैं पूर्व में उल्लेख कर चुकी हूँ - या 'इंटरसेक्शनैलिटी', 'गवर्नमेंटैलिटी', 'परफॉर्मेटिविटी' और 'रज़िस्टेन्स' जैसी अवधारणाओं के प्रति वैसा ही अपरीक्षित और प्रचलित दृष्टिकोण अपनाते हैं। हम उन्हें किसी निर्वात में उत्पन्न, एक निश्चित, अपरिवर्तनीय एवं स्थान-समय निरपेक्ष अवधारणा मान लेते हैं। हम उनको उद्धृत तो करते हैं, पर किसी सामाजिक प्रक्रिया या घटना के सतत विश्लेषण में उनका गहराई से प्रयोग नहीं करते।

अनुवादक:

#आयुषी शर्मा, सहायक आचार्य - समाजशास्त्र, मोदी विधि महाविद्यालय, कोटा

##त्रिभू नाथ दुबे, आचार्य - समाजशास्त्र, राजकीय कला कन्या महाविद्यालय, कोटा